6412

तित्थयर

चतुर्दश वर्ष : दिसम्बर १९९० : अष्टम अंक

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १४ : अंक ८

दिसम्बर १९९०

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७०००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

नियमसार के कतिपय विचारणीय प्रसंग २२७

जैन-दर्शनमें शब्दका पौद्गलिकत्व प्रतिपादन २३३

कपिल २४२

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २४५

संकलन २५४

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या २५५

महावीर की कांस्य प्रतिमा, राजगार्ड म्युजियम
बुल्गारिया, ई० १०वीं सदी

नियमसार के कतिपय विचारणीय प्रसंग

डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार

आचार्य कुन्दकुन्द जैन श्रमण-परम्परा के आधार-स्तम्भ हैं। उनकी रचनाएँ आगमतुल्य मानी जाती हैं। नियमसार उनकी श्रमणाचार विषयक प्रमुख एवं सम्भवतया आद्य रचना है। ग्रन्थ का परिमाण मात्र एक सौ सतासी प्राकृत गाथा है। नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारीदेव की संस्कृत टीका है। टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति है। टीका गद्य-पद्यमय है। टीका की शैली अमृतचन्द्रसूरि की टीकाओं की भाँति है। नियमसार में कई ऐसे प्रसंग आये हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्द का वैशिष्ट्य प्रकट करते हैं। इन प्रसंगों पर विद्वानों का विशेष ध्यान जाना चाहिए। भविष्य के अनुसंधान कार्यों में इन पर और अधिक विचार किया जा सकता है।

१ नियमसार में ग्रन्थ के नाम की सार्थकता बताते हुए आचार्य ने कहा है कि जो नियम से करने योग्य कार्य है, वह नियम है। वह नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। विपरीत का परिहार करने के लिए 'सार' पद का ग्रहण किया गया है। गाथा इस प्रकार है—

'णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥ गाथा ३

कुन्दकुन्द ने यहाँ 'नियम' शब्द से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र-रूप मोक्ष मार्ग का ग्रहण किया है। प्राकृत जैनागमों में अन्यत्र इस अर्थ में 'नियम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और संस्कृत ग्रन्थों में भी यह सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने नियम शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग को व्यवहारनय की अपेक्षा से नियम कहा गया है। शुभ और अशुभ वचन की रचना तथा रागादि भावों का निवारण करके आत्मा का ध्यान करना, नियम से नियम है अर्थात् निश्चय से नियम है।

२ नियमसार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन छः द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा गया है। ये विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त बताये गये हैं। गाथा इस प्रकार है—

जीवाम पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयसँ ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ।। गाथा ६

नियमसार में तत्त्वार्थ या द्रव्य की परिभाषा नहीं दी गई है। बाद की गाथाओं में 'जीवादीदव्वाणं' और 'एदे छद्दव्वाणि' शब्दों का प्रयोग हुआ है। छः द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहे गये हैं। कालद्रव्य कायवान् नहीं है, क्योंकि वह एक प्रदेशी माना गया इसलिए अस्तिकाय नहीं है।

कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। प्रवचनसार में छः द्रव्यों की चर्चा की गई है। उसमें द्रव्य का स्वरूप भी कहा गया है। ज्ञेयाधिकार की पहली गाथा में अर्थ (पदार्थ) को द्रव्यमय कहा गया है। पंचास्तिकायसंग्रह में पाँच अस्तिकायों और छः द्रव्यों का वर्णन १०२ गाथाओं में हुआ है। १०३ री गाथा में कहा है कि इस प्रकार जो प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह को जानकर राग-द्वेष को छोड़ता है, वह संसार के दुःखों से छुटकारा पाता है। १०४ थी गाथा में पाँच अस्तिकायों और छः द्रव्यों के लिए 'अट्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। १६० वीं गाथा में धर्मादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है।

पंचास्तिकाय संग्रह के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नौ पदार्थों के नाम व स्वरूप कहे गये हैं। प्रारम्भ में मंगलाचरण होने से यह प्रतीत होता है कि संभवतया यह स्वतन्त्र रचना है, जिसे पंचास्तिकाय संग्रह में सम्मिलित कर दिया गया हो। टीकाकार इसे मध्यमंगल कहते हैं, किन्तु कुन्दकुन्द के अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का मंगल उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए यह विचारणीय है।

पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य लोक व्यवस्था से सम्बद्ध है। सात तत्व और नौ पदार्थ मोक्ष मार्ग से सम्बद्ध हैं। किन्तु नियमसार में तत्त्वार्थ के रूप में द्रव्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन परम्परा पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य को तत्त्वार्थ मानने की रही है। ज्ञेय सम्पूर्ण लोक है। लोक छः द्रव्यों से निर्मित है। पंचास्तिकाय संग्रह में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

तत्त्व या पदार्थ बन्ध-मोक्ष की प्रक्रिया है। कुन्दकुन्द के समय तक पदार्थों की मान्यता विकसित हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने पंचास्तिकाय संग्रह में नौ पदार्थों का विवेचन किया। समयसार नौ पदार्थों की व्याख्या

करने वाला उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें पूरी प्रौढ़ता के साथ पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है।

३ नियमसार में पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश कहे गये हैं। यथा—'संखेज्जा संखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।' (गाथा ३५) पश्चाद्वर्त्ती सभी आचार्यों ने इसी का अनुकरण किया है। पुद्गलद्रव्य अप्रदेशी होता है। वह परमाणु रूप माना गया है। यह विचारणीय है कि क्या प्रदेश और परमाणु शब्द एकार्थक हैं?

पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी होता है। स्कन्धादि अपेक्षा भेद से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाला कहा गया है। अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—'द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेसत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य।' अर्थात् पुद्गलद्रव्य यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र होने से अप्रदेशी है। तथापि दो प्रदेशों से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों वाली पर्यायों की अपेक्षा से अनिश्चित प्रदेश वाला होने से प्रदेशवान है।

४ अर्धमागधी आगमों में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छः आवश्यक कहे गये हैं। उनका क्रम भी यही है। नियमसार में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, परमसमाधि और परमभक्ति, ये नाम हैं तथा यही उनका क्रम है। नियमसार में प्रतिक्रमणादि के साथ आवश्यक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रतिक्रमणादि का विवेचन करने के बाद अठारह गाथाओं में निश्चय आवश्यक का स्वरूप कहा गया है। वहीं आवश्यक शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है। दो गाथाओं में आवश्यक शब्द की निरुक्ति की गई है। आवश्यक का महत्व भी अनेक प्रकार से बताया गया है।

आवश्यक की निरुक्ति करते हुए आचार्य ने कहा है कि जो अन्य के वश नहीं होता है, उसके कार्य को आवश्यक कहते हैं। यह कर्म विनाशक योग्य निर्वृत्ति मार्ग है। यह निरुक्ति है। जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है तथा अवश का कार्य आवश्यक जानना चाहिए। यह निरवयव युक्ति और उपाय है। जो श्रमण अशुभभाव, शुभभाव और द्रव्यगुणपर्याय में चित्त को लगाता है, वह अन्यवश है, उसके आवश्यक कार्य नहीं होता। जो श्रमण परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभावी आत्मा का ध्यान करता है, वह आत्मवश होता है तथा उसी के आवश्यक कार्य होता है।

प्रतिक्रमण में अतीतकालीन दोषों का निराकरण किया जाता है।

प्रत्याख्यान में अनागत दोषों का विचार होता है। वर्तमान दोषों की आलोचना की जाती है। इन तीनों के बाद प्रायश्चित किया जाता है। नियमसार में प्रायश्चित के साथ ही कायोत्सर्ग का स्वरूप कहा गया है। जो कायादि परद्रव्यों में स्थिरता को छोड़कर निर्विकल्पक रूप से आत्मा का ध्यान करता है, उसके कायोत्सर्ग होता है। उक्त चार आवश्यकों के बाद परमसमाधि और परम भक्ति होती है। नियमसार का यह आवश्यक-क्रम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि आवश्यक से हीन श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होता है, इसलिए पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक करना चाहिए। वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, नियम और वचनमय आलोचना को स्वाध्याय कहा गया है। सभी पुराण पुरुष इस प्रकार से आवश्यक को करके अप्रमत्त आदि गुण स्थानों को प्राप्त होकर केवली हुये हैं।

५ नियमसार में जैनदर्शन की सर्वज्ञता विषयक यह अवधारणा अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है कि केवली—सर्वज्ञ व्यवहार से समस्त लोकालोक को जानता है, किन्तु वास्तव में वह अपने को ही जानता है। गाथा इस प्रकार है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥ गाथा १५९

सर्वज्ञता विषयक विचार कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। इस मान्यता के अनुसार सर्वज्ञ तीनों लोकों के, तीनों कालों के, समस्त द्रव्यों के, समस्त पर्यायों को एक साथ देखता जानता है। इस अवधारणा का विस्तार से विवेचन हुआ है। इसलिए नियमसार का उक्त कथन कि 'वास्तव में वह अपने को ही जानता है', परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। कुन्दकुन्द ने ज्ञान और ज्ञेय का जो विवेचन किया है, उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसका समाधान प्राप्त हो जाता है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्द ने कहा है कि एक द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं, इसलिए यदि सर्वज्ञ एक द्रव्य की सभी पर्यायों को एक साथ नहीं जानता तो वह सभी द्रव्यों को भी एक साथ नहीं जान सकता।

६ नियमसार में केवली—सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान एक साथ प्रकट होने की बात भी उदाहरण सहित स्पष्ट रूप से कही गई है। गाथा इस प्रकार है—

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥ गाथा १६०

कुन्दकुन्द ने सूर्य के प्रकाश और ताप के एक साथ प्रकट होने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसी उदाहरण को बाद के दार्शनिकों ने अपनाया है।

७ नियमसार में आत्मा के स्व-पर प्रकाशक स्वरूप का स्पष्ट रूप से वर्णन है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता और आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रहता। इस कथन से उस चिन्तन के संकेत प्राप्त होते हैं, जिसमें आत्मा से ज्ञान को भिन्न माना गया है। इसी तरह ज्ञान को मात्र पर-प्रकाशक माना गया है। कुन्दकुन्द की ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक मानने की अवधारणा जैन दर्शनिकों को चिन्तन के लिए आदर्श रूप में उपलब्ध हुई, जिसका आगे के दार्शनिकों ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

८ नियमसार में निर्वाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि केवली के आयु के क्षय होने से शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश हो जाता है। पश्चात् वे शीघ्र एक समय मात्र में निर्वाण को प्राप्त करते हैं। वे जन्म, जरा और मरण रहित, परम, आठ कर्म रहित, शुद्ध ज्ञानादि चार स्वभाव वाले, अक्षेय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालंब हो जाते हैं। जहाँ दुःख, सुख, पीड़ा, बाधा, मरण, जन्म, इन्द्रियाँ, उपसर्ग, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कर्म, नोकर्म, चिन्ता, आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान नहीं है, वहीं निर्वाण है। कुन्दकुन्द के इस विवेचन से मोक्ष के स्वरूप का परिज्ञान होता है।

९ नियमसार में कहा गया है कि निर्वाण में जीव के केवलज्ञान, केवलसौख्य, केवल वीर्य, केवल दर्शन, अमूर्त्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व होते हैं। मूल प्राकृत गाथा में ये सात गुण गिनाये गये हैं। गाथा इस प्रकार है—

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥ गाथा १८५

नियमसार के संस्कृत टीकाकार पद्मप्रभ मलधारीदेव ने आदि शब्द से अन्य गुणों का समावेश कर लिया है।

१० कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के सम्बन्ध में कई बातें विचारणीय हैं। उन्होंने 'वोच्छामि' या 'भणियं' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से नियमसार का 'मए कदं' शब्द का उल्लेख महत्वपूर्ण है। गाथा इस प्रकार है—

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ।। गाथा १८७

अर्थात् पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निज भावना के निमित्त नियमसार नामक श्रुत (शास्त्र) को किया (रचा) है ।

नियमसार की मंगल गाथा में केवलियों और श्रुत केवलियों द्वारा कहे गये नियमसार को कहने की प्रतिज्ञा की गई है । गाथा संख्या चार में कहा है कि नियम अर्थात्, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा नियमफल की प्ररूपणा होगी । इस कथन का उपसंहार इस प्रकार किया गया है—

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ।। गाथा १८५

अर्थात् नियम और नियम का फल प्रवचन-भक्ति से कहे हैं । यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता उसे दूर करके पूर्ण करें ।

उक्त गाथा १८५ और १८७ में जो बातें कही गई हैं, वे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं । गाथा १८५ में प्रवचन भक्ति से नियम और नियमफल निर्दिष्ट करने की बात कही है । और यह भी कहा है कि यदि पूर्वापर विरोध हो तो आगम के ज्ञाता उसे दूर करके पूरा कर लें । गाथा १८७ में कहा गया है कि पूर्वापर विरोध रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निज भावना के निमित्त नियमसार नामक श्रुत किया (रचा) है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने १८५ गाथाओं में ग्रन्थ रचा हो । अन्तिम दो गाथाएँ बाद में ग्रन्थ में सम्मिलित कर दी गई हों । यह विशेष रूप से विचारणीय है ।

११ उल्लेखित तथ्यों से नियमसार ग्रन्थ का महत्व स्वतः स्पष्ट है । इसके टीकाकार पद्मप्रभमलधारीदेव ने ग्रन्थ को परमागम, परमेश्वर शास्त्र तथा भागवत शास्त्र कहा है । इसका अध्ययन करने वाला शाश्वत सुख का भोक्ता होता है, ऐसा कहा है ।

उक्त विचारणीय बातों के अतिरिक्त अन्य कई प्रसंग और हैं, जिन पर विचार किया जाना अपेक्षित है । यहाँ कुछ प्रसंगों पर नियमसार के सन्दर्भ में विचार किया गया है । इनका तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण भी आवश्यक है ।

जैन-दर्शनमें शब्दका पौद्गलिकत्व प्रतिपादन

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

प्रास्ताविक

शब्द और अर्थ क्या है ? इनका सम्बन्ध है या नहीं ? ये नित्य हैं या अनित्य ? यदि नित्य है तो इनका क्या स्वरूप है और अनित्य हैं तो क्या ? अर्थतत्त्वका ज्ञान कैसे और क्यों होता है ? अर्थ-तत्त्वका निर्णय किस प्रकारसे और किन साधनोंसे किया जाता है ?—आदि प्रश्नोंका समाधान वैयाकरणोंके अतिरिक्त दार्शनिकोंने भी किया है। शब्द सुदूर प्राचीन कालसे ही दार्शनिकोंके लिए विचारका विषय रहा है। जैन दर्शनकारोंने भी शब्द और अर्थतत्त्वत पर पर्याप्त ऊहा-पोह किया है। प्रमोत्पत्तिका प्रधान साधन शब्द ही है। अतः इसके स्वरूप पर विचार करना दर्शनशास्त्रका एक अनिवार्य अंग है।

स्वरूप

जैन दर्शनमें शब्दको पुद्गलका पर्याय या रूपान्तर माना गया है। इसकी उत्पत्ति स्कंधोंके परस्पर टकरानेसे होती है। इस लोकमें सर्वत्र पुद्गलरूप शब्द वर्गणाएँ, अति सूक्ष्म और अव्याहत रूपसे भरी हुई हैं। हम अपने मुँहसे तालवादिके प्रयत्न द्वारा वायु विशेषका निस्सरण करते हैं, यही वायु पुद्गल-वर्गणाओंसे टकराती है, जिससे शब्दकी उत्पत्ति हो जाती है। प्रमेय-कमल-मार्त्तण्डमें शब्दके आकाश गुणत्वका निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि परमाणुओंके संयोगरूप स्कन्धों—शब्दवर्गणाओंके सर्वत्र सर्वदा विद्यमान रहनेपर भी ये वर्गणाएँ शब्द रूप तभी परिणमन करती हैं, जब अर्थबोधकी इच्छा से उत्पन्न प्रयत्नसे प्रेरित परस्पर घर्षण होता है। वाद्यध्वनि तथा मेघ आदिकी गर्जना भी वर्गणाओंके घर्षण का ही फल है। कुन्दकुन्द स्वामीने शब्द स्वरूपका विवेचन करते हुए लिखा है

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियमा॥

—पंचास्तिकाय, गाथा ७९

शब्द स्कन्धसे उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओंके बन्धको स्कन्ध कहते हैं। इन स्कन्धोंके परस्पर टकरानेसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। संस्कृत टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यने स्पष्ट करते हुए लिखा है :

अतः यह सिद्ध है कि शब्द पुद्गलका पर्याय है, पुद्गल स्वरूप है और इसकी उत्पत्ति स्कन्धोंके परस्पर टकरानेसे होती है।

जब शब्द पुद्गलका पर्याय है तो यह किस गुणके विकारसे उत्पन्न होता है; क्योंकि प्रत्येक पर्याय गुणोंकी विकृति—परिवर्तनसे उत्पन्न होता है। पुद्गलमें प्रधान चार गुण होते हैं—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। शब्द स्पर्श गुण के विकारसे उत्पन्न होता है। भाषा वर्गणाएँ जो पुद्गल रूप हैं, उनमें पुद्गलके चारों प्रधान गुणोंके रहनेपर भी स्पर्श गुणके परिवर्तनसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि शब्द कर्ण इन्द्रियसे स्पर्श करनेपर ही अर्थबोधका कारण बनता है। आजके विज्ञानने (sound) ध्वनिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उससे भी उपर्युक्त कथनकी सिद्धि होती है। विज्ञान ध्वनिकी उत्पत्तिमें 'कम्पन' को आवश्यक मानता है। यह कम्पन स्पर्श गुणके परिवर्तनसे ही सम्भव है। जैन दार्शनिकोंने शब्दको गतिमान, स्थितिमान और मूर्तिक माना है। परीक्षणसे भी उक्त तीनों गुण शब्दमें सिद्ध हैं। अतः शब्द पुद्गलका पर्याय है और स्पर्श गुणके विकारसे उत्पन्न होता है तथा इसमें पुद्गलके चारों गुणोंमेंसे स्पर्श गुण ही प्रधान रूपसे व्यक्तावस्थामें पाया जाता है।

नित्यानित्यत्व

मीमांसकका कहना है कि शब्दको अनित्य माननेसे अर्थकी प्रतीति सम्भव नहीं; किन्तु शब्दसे अर्थकी प्रतीति होती है, अतः शब्द नित्य है। शब्द नित्य न हो तो स्वार्थका वाचक नहीं हो सकता है। शब्दमें वाचकत्व और अर्थमें वाच्यत्व-शक्ति है, अतः शब्द और अर्थमें वाच्यवाचक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। उदाहरणके लिए यों कह सकते हैं कि हमने किसी व्यक्तिसे पानी लाने को कहा। शब्द अनित्य होता तो पानी शब्द कहनेके साथ ही नष्ट हो जाता और श्रोताको अर्थकी प्रतीति ही नहीं होती तथा हम प्यासे ही बने रहते और सुननेवाला हमें कभी भी पानी लाकर नहीं देता। पर यह सब होता नहीं है, श्रोता हमारे कहनेके साथ ही अर्थ बोध कर लेता है और जिस अर्थमें जिस शब्दका प्रयोग किया जाता है श्रोता उसकी क्रियाको भी सम्पन्न कर देता है। अतएव शब्द नित्य है, अन्यथा अर्थबोध नहीं हो सकता था। अनित्य शब्द से अर्थकी प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति असम्भव है।

'यह घट है' इस शब्दकी सदृशता इसी प्रकारके विभिन्न देशवर्ती शब्दोंमें पायी जाती है, अतः यह सदृशता अर्थका वाचक हो जायगी, नित्यता नहीं—यह आशंका भी निरर्थक है, अतः शब्द सदृशतासे अर्थका वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि शब्दमें वाचकत्व एकत्वसे सम्भव है, सदृशतासे नहीं। न

सादृश्य प्रत्यभिज्ञानसे अर्थका निश्चय किया जा सकता है; क्योंकि ऐसा माननेसे शब्द-ज्ञानमें भ्रान्ति-दोष आएगा। एक शब्दमें संकेत होनेपर दूसरे शब्दसे अर्थका निश्चय निर्भ्रान्त नहीं हो सकता; अन्यथा गृहीत संकेत गोशब्दमें अश्व शब्दसे गाय अर्थका निश्चय भी अभ्रान्त हो जायगा। यदि शब्दके अवयवोंके साम्यसे शब्दमें सदृशता स्वीकार की जाय तो यह भी असंगत होगा; क्योंकि वर्ण निरवयव होते हैं। गत्वसे विशिष्ट गादि शब्दोंमें भी वाचकत्व नहीं बन सकता है; अतः गादि सामान्यका अभाव है और सामान्यके अभावके कारण शब्दों में नानात्व भी सम्भव नहीं। अतएव नित्य शब्द द्वारा ही अर्थबोध हो सकता है।

पतंजलिने 'ऋलृक्' सूत्रकी व्याख्यामें जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छा शब्दोंका विवेचन करते हुए जाति शब्दोंको नित्य; क्रियावाचक शब्दोंको अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष; गुणवाचक शब्दोंको अव्यवहार्य और स्वानुभूति-संवेद्य एवं यदृच्छा शब्दोंको लोक-व्यवहारका हेतु माना है। यदृच्छा शब्द भौतिक हैं, ये नित्य नहीं; प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं।

कैयटने इसी सूत्रकी व्याख्यामें यदृच्छा शब्दके अतिरिक्त अन्य किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। ये इसे माया, अविद्या और अज्ञानका ही प्रपंच मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक शब्दको अनित्य मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि उत्पत्तिके तृतीय क्षणमें शब्दका ध्वंस हो जाता है; यह आकाशका गुणविशेष है। लौकिक व्यवहारमें वर्णसे भिन्न नाद ध्वनिको ही शब्द कहा जाता है।

बौद्ध अपोह—अन्य निवृत्ति रूप शब्दको मानता है तथा इस दर्शनमें शब्दको अनित्य माना गया है।

प्रभाकरने शब्दकी दो स्थितियाँ मानी हैं—ध्वनि रूप और वर्ण रूप। दोनों रूप आकाशके गुण हैं। इनमें ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य हैं और वर्णात्मक शब्द नित्य।

जैन दर्शनमें उपर्युक्त सभी दर्शनोंकी आलोचना करते हुए शब्दको नित्यानित्यात्मक माना गया है। तथ्य यह है कि जैन दर्शनमें विचार करनेकी दो पद्धतियाँ हैं—द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि और पर्यायार्थिक या पर्याय-दृष्टि। किसी भी वस्तुका विचार करते समय उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंमेंसे जब एक दृष्टि प्रधान रहती है तब दूसरी दृष्टि गौण और दूसरीके प्रधान होने पर पहली गौण हो जाती है। अतः द्रव्य दृष्टिसे विचार करनेपर शब्द कथञ्चित्

नित्य सिद्ध होता है; क्योंकि द्रव्य रूप शब्द वर्गणाएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं और पर्यायदृष्टिकी अपेक्षासे शब्द कथञ्चित् अनित्य हैं; क्योंकि व्यक्ति विशेष जिन शब्दोंका उच्चारण करता है, वे उसी समय या उसके कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। जैन दार्शनिकोंने पर्यायापेक्षा भी शब्दको इतना क्षण-विध्वंसी नहीं माना है, जिससे वह श्रोताके कान तक ही नहीं पहुँच सके और बीचमें ही नष्ट हो जाय। एक ही शब्दकी स्थिति कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक हो सकती है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकोंने शब्दको एकान्त रूपसे नित्य या अनित्य माननेवाले पक्षोंका तर्क-संगत निराकरण किया है। कुमारिल भट्टके नित्यपक्षकी आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्रने बतलाया है कि अर्थके वाचकत्वके लिए शब्दको नित्य मानना अनुपयुक्त है; क्योंकि शब्दके नित्यत्वके बिना अनित्यत्वसे भी अर्थका प्रतिपादन सम्भव है। जैसे अनित्य धूमादिसे सदृशताके कारण पर्वत और रसोईघरमें अग्निका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार गृहीत संकेतवाले अनित्य शब्दसे भी सदृशताके कारण अर्थका प्रतिपादन सम्भव है। यदि कार्यकारण एवं सदृशता सम्बन्धोंको वस्तुप्रतिपादक न माना जाय और केवल नित्यताको ही प्रधानता दी जाय तो सर्वत्र सभी पदार्थोंको नित्यत्वापत्ति हो जायगी। अतएव कुमारिलभट्टने जो शब्दको नित्य माना है तथा शब्दकी उत्पत्ति न मानकर उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव माना है, वह सदोष है। तर्क द्वारा शब्द कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होता है। शब्दकी उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

अर्थ-प्रतिपत्ति

जैन दार्शनिकोंने अर्थमें वाच्य रूप और शब्दोंमें वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता मानी है। इस योग्यताके कारण ही संकेतादिके द्वारा शब्द सत्य अर्थका ज्ञान कराते हैं। घट शब्दमें कम्बुग्रीवादिवाले घड़ेको कहनेकी शक्ति है और उस घड़ेमें कहे जानेकी शक्ति है। जिस व्यक्तिको इस प्रकारका संकेत ग्रहण हो जाता है कि घट शब्द इस प्रकारके घट अर्थको कहता है, वह व्यक्ति घट शब्दके श्रवण मात्रसे ही जलधारण क्रियाको करनेवाले घट पदार्थका बोध प्राप्त कर लेता है। आचार्य माणिक्यनन्दिने अर्थ प्रतिपत्तिका निर्देश करते हुए कहा है—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः—परीक्षामुख ३.९६

प्रभाचन्दने शब्द और अर्थके वास्तविक सम्बन्धकी सिद्धिमें उपस्थित किये तर्कोंका उत्तर देते हुए लिखा है कि यह सत्य है कि अर्थज्ञानके विभिन्न साधनोंसे अर्थका ज्ञान समान रूपसे स्पष्ट नहीं होता; कोई अधिक स्पष्ट रूपसे

वस्तुका ज्ञान कराते हैं और कोई नहीं। अग्नि शब्दसे उतना अग्निका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता; जितना कि अग्निके जलनेसे उत्पन्न दाहका। साधनके भेदसे स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है, विषयके भेदसे नहीं। अतः स्पष्ट ज्ञान करानेवाले साधनसे ज्ञात पदार्थको असत्य नहीं कह सकते। साधकके भेदसे एक ही शब्द विभिन्न अर्थोंके प्रकट करनेकी योग्यता रखता है।

शब्द और अर्थकी इस स्वाभाविक योग्यतापर मीमांसकने आपत्ति प्रस्तुत की है कि शब्द-अर्थमें यह स्वाभाविकी योग्यता नित्य है या अनित्य? प्रथम पक्षमें अनवस्था दूषण आयेगा और द्वितीय पक्षमें सिद्ध साध्यतापत्ति हो जायगी। इस शंकाका समाधान करते हुए बताया गया है कि हस्त, नेत्र, अंगुली संज्ञा सम्बन्धकी तरह शब्दका सम्बन्ध अनित्य होनेपर भी अर्थका बोध करानेमें पूर्ण समर्थ हैं। हस्त, संज्ञादिका अपने अर्थके साथ सम्बन्ध नित्य नहीं है, क्योंकि हस्त, संज्ञादि स्वयं अनित्य हैं, अतः इनके आश्रित रहनेवाला सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है। जिस प्रकार दीवालपर अंकित चित्र दीवालके रहनेपर रहता है और दीवालके गिर जानेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शब्दके रहनेपर स्वाभाविक योग्यताके कारण अर्थबोध होता है और शब्दाभावमें अर्थबोध नहीं होता। मीमांसकके समस्त आक्षेपोंका उत्तर प्रभाचन्द्रने तर्कपूर्ण दिया है।

भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें शब्द और अर्थकी विभिन्न शक्तियोंका निरूपण किया है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें शब्द और अर्थकी स्वाभाविक योग्यताका निरूपण करते हुए भर्तृहरिके सिद्धान्तकी विस्तृत आलोचना की है।

शब्द और अर्थका सम्बन्ध

जैन-दर्शन शब्दके साथ अर्थका तादात्म्य सम्बन्ध मानता है। यह स्वाभाविक है तथा कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इन दोनोंमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द और अर्थमें योग्यताके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-कारण आदि सम्बन्ध भाव नहीं है। शब्द और अर्थमें योग्यताका सम्बन्ध होनेपर ही संकेत होता है। संकेत द्वारा ही शब्द वस्तुज्ञानके साधन बनते हैं। इतनी विशेषता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है तथा इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों द्वारा होता है।

जैन दार्शनिकोंने नित्यसम्बन्ध, अनित्य सम्बन्धाभावका बड़े जोरदार शब्दोंमें निराकरण किया है। प्रमेयकमलमार्तण्डमें प्रभाचन्द्रने जो विस्तृत

समालोचना की है, उसीके आधारपर थोड़ा-सा इस सम्बन्धमें विवेचन कर देना, अप्रासंगिक न होगा।

वैयाकरण अर्थबोध शब्दसे मानकर शब्दको अभिव्यक्त करनेवाली सामूहिक ध्वनि विशेषसे ही अर्थ-बोध मानते हैं और इसीका नाम उन्होंने स्फोटवाद रखा है। इसका कहना है कि अर्थमें निश्चित वाच्य शक्ति है और उसका वाचक स्फोट है। यदि वर्णोंमें वाचकत्व शक्ति स्वीकार की जाय तो वर्णोंमें यह वाचकत्व शक्ति न तो उनके समूहपनेसे सम्भव हो सकती है न पृथक्पनेसे। पृथक्पनेके मार्गको स्वीकार करनेमें 'गौः' शब्दमेंसे 'ग' वर्ण ही गास्य पदार्थका वाचक हो जायगा। 'औ' और विसर्गका उच्चारण निष्फल ही होगा। यदि सामूहिक वर्णोंको अर्थबोधक माना जाएगा तो वर्णोंकी सामूहिकता ही एक कालमें कैसे सम्भव हो सकेगी? क्योंकि वर्ण अनित्य हैं। उनका उच्चारण क्रमशः होता है तथा इनके उच्चारण स्थान भी निश्चित हैं और ये उच्चारण स्थान एक साथ अपना काम नहीं करते हैं। अतः सामूहिक वर्ण अर्थबोध के हेतु नहीं हो सकते।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्याः, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ११६

अनुग्राह्य और अनुग्राहक सम्बन्धकी अपेक्षा भी वर्णोंमें वाचकत्व शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती; अतः अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध मूर्तमें होता है अर्थात् अनुग्राह्य वस्तु और अनुग्राहक वस्तु दोनोंके सद्भावमें यह नियम घटित होता है। इनमेंसे प्रथमके सद्भावमें और द्वितीयके अभावमें या द्वितीयके सद्भावमें और प्रथमके अभावमें यह नियम किस तरह कार्यकारी हो सकेगा? ग, औ और विसर्गमें 'ग' 'औ' पूर्व वर्ण हैं और विसर्ग पर वर्ण है। इनमें पूर्व वर्ण 'ग' 'औ' इन दोनोंका पर वर्ण विसर्गकी सद्भाव अवस्थामें अभाव है। अतः उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णोंमें नहीं है।

पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णमें जन्य-जनक सम्बन्ध भी नहीं है, जिसके आधारपर पर पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णका सम्बन्ध मानकर वर्णोंकी सामूहिकता एक कालमें एक साथ बन सके और उस सामूहिकताकी अपेक्षा वर्ण अर्थके वाचक हो सकें। अन्यथा वर्णसे वर्णकी उत्पत्ति होने लगेगी।

सहकार्य-सहकारी सम्बन्धकी अपेक्षा भी पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णोंका सद्भाव एक साथ एक कालमें नहीं माना जा सकता है; अतः विद्यमानोंमें ही यह सम्बन्ध होता है। अन्त्य वर्णके समयमें पूर्व वर्ण अविद्यमान है, फिर इस सम्बन्धकी कल्पना इनमें कैसे सम्भव है। जिस प्रकार यह सम्बन्ध वर्णोंमें सम्भव नहीं, उसी प्रकार पूर्व वर्ण-ज्ञान और पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार में

भी नहीं बन सकता है। क्योंकि पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार पूर्व वर्ण ज्ञानके विषयकी स्मृतिमें कारण हो सकता है, अन्यमें नहीं। वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कारसे उत्पन्न स्मृतियाँ भी अन्त्यवर्णकी सहायता नहीं कर सकतीं, अतः उनकी उत्पत्ति भी एक साथ सम्भव नहीं। क्रमशः उत्पन्न स्मृतियोंकी उत्पत्ति भी असम्भव है। यदि सम्पूर्ण संस्कारोंसे उत्पन्न एक स्मृति अन्त्यवर्णकी सहायता करती है, यह माना जाय तो विरोधी घटपदार्थ अनेक पदार्थोंके अनुभवसे उत्पन्न संस्कार भी एक स्मृतिजनक हो जायँगे। निरपेक्ष वर्ण पदार्थवाचक नहीं हो सकते हैं; क्योंकि पूर्व वर्णोंका उच्चारण निरर्थक हो जायगा। अतः किसी भी सम्बन्धमें ऐसी शक्ति नहीं है जिससे गौः आदि शब्दों द्वारा गवादि अर्थोंकी प्रतीति हो सके। पर, अर्थकी प्रतीति शब्दों द्वारा देखी जाती है; अतः स्फोट नामकी शक्ति ही अर्थबोधका कारण है। स्फोटवादी शब्दको ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। यही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय रूप है। स्फोटको भी नित्य, अखण्ड, अनिवर्चनीय और निर्लेप माना गया है।

जैन दर्शनकारोंने इस स्फोटवादकी विस्तृत समीक्षा करते हुए बताया है कि एकका अभाव अन्य वस्तुके सद्भावका कारण होता है। यह कारण उपादान हो अथवा निमित्त, पर कार्योत्पत्तिमें सहायक अवश्य रहता है। प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त दोनों प्रकारके कारणोंसे उत्पन्न होता है। बलिष्ठ उपादान भी अकेला तब तक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जब तक निमित्त सहायता नहीं करता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि अर्थ-प्रतीतिमें उपादान कारण है, पर यह उपादान अपने सहकारी पूर्व वर्णकी अपेक्षा करता है। यद्यपि अन्त्य वर्णके समयमें पूर्व वर्णका सद्भाव नहीं है, फिर भी श्रूयमाण पूर्व वर्णका अभाव तो अन्त्य वर्णके समयमें विद्यमान है। इस अभावकी सहायतासे अन्त्यवर्ण अर्थ-प्रतीतिमें पूर्ण समर्थ है। जैसे आम्रवृक्षकी शाखापर लगा हुआ आम अपने भारके कारण स्वयं गिरकर अथवा दूसरे किसी कारणसे च्युत होनेपर वह अपना संयोग पृथ्वीसे स्थापित करता है। इस संयोगमें उसके पूर्व संयोग का अभाव कारण है; अन्यथा पृथ्वीसे उसका संयोग हो ही नहीं सकता। अतएव पूर्व वर्ण-ज्ञानके अभावसे विशिष्ट अथवा पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कारकी सहायतासे अन्त्यवर्ण अर्थकी प्रतीत करा देता है।

पूर्व वर्ण विज्ञानोत्पन्न संस्कार प्रवाहसे अन्त्यवर्णकी सहायताको प्राप्त करता है। प्रथम वर्ण और उससे उत्पन्न ज्ञानसे संस्कारकी उत्पत्ति होती है; द्वितीय वर्णका ज्ञान और उससे प्रथम वर्ण ज्ञानोत्पन्न संस्कारसे विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्त्य संस्कार तक क्रम चलता रहता

है। अतएव इस अन्त्य संस्कारकी सहायतासे अन्त्यवर्ण अर्थकी प्रतीतिमें जनक होता है।

शब्दार्थकी प्राप्तिमें सबसे प्रमुख कारण क्षयोपशम रूप शक्ति है। इसी शक्तिके कारण पूर्वापर उत्पन्न वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार स्मृतिको उत्पन्न करता है, जिसकी सहायतासे अन्त्यवर्ण अर्थकी प्रतीतिका कारण बनता है। इसी प्रकार वाक्य और पद भी अर्थ-प्रतीतिमें सहायक होते हैं।

जैन दर्शनमें कथञ्चित्तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध शब्द और अर्थका माना गया है, जिससे स्फोटवादीके द्वारा उठायी गयी शंकाओंको यहाँ स्थान ही नहीं। भद्रबाहु स्वामीने भी शब्द और अर्थके इस सम्बन्धकी विवेचना करते हुए कहा है—

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिन्नं अभिन्नं च।
खुर अग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उवयणसवणणं ॥१॥
विच्छेदो न वि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु।
जम्हाय मोयगुच्चारणम्मिभतत्थेव पच्चओ होइ ॥२॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ।

—न्यायावतार, पृ० १३

शब्द—अभिधान अर्थ अभिधेयसे भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। चूंकि खुर, अग्नि और मोदक इनका उच्चारण करनेसे वक्ताके मुँह और श्रोताके कान नष्ट या जल या भर नहीं जाते हैं, इसलिये तो अर्थसे शब्द कथञ्चिद्भिन्न हैं और चूंकि 'मोदक' शब्दसे 'मोदक' अर्थमें ही ज्ञान होता है और किसी पदार्थमें नहीं होता, इसलिये अपने अर्थसे शब्द कथञ्चित् भिन्न है।

शब्दके भेद

शब्दके मूलतः दो भेद हैं—भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकारका है—अक्षर रूप और अनक्षर रूप। मनुष्योंके व्यवहारमें आनेवाली अनेक बोलियाँ अक्षररूप भाषात्मक शब्द है और पशुपक्षियोंकी टें-टें, मैं-मैं अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अभाषा रूप शब्दके दो भेद हैं—प्रायोगिक और स्वाभाविक। जो शब्द पुरुष प्रयत्नसे उत्पन्न होता है उसे प्रयोगिक और जो बिना पुरुष प्रयत्नके मेघादिकी गर्जनासे होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रयोगिकके चार भेद हैं—तत, वितत, घन और सुषिर। चमड़ेको मढ़कर ढोल, नगारे आदिका जो शब्द होता है, वह तत है। सितार, पियानो और तानपुरा आदिके शब्दको वितत; घण्टा, झालर आदिके शब्दको घन एवं बाँसुरी, शंख आदिके शब्दको सुषिर कहते हैं।

उपसंहार

जैन दर्शनमें शब्दको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके बिना प्रमा ही संभव नहीं तथा सर्वज्ञ वचनोंकी प्रमाणताके अभावमें आगम भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। शब्दको जैन दार्शनिकोंने आकाश गुण नहीं माना है, प्रत्युत पौद्गलिक सिद्ध किया है। शब्दकी सिद्धि अनेकान्तके द्वारा मानी है। पूज्यपादने अपने व्याकरणके आरम्भ में—'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्र लिखा है, जिसकी वृत्ति लिखते हुए सोमदेवने बतलाया है—"सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्, अस्तित्व-नास्तित्वस्य नित्यत्वानित्व विशेषण-विशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धत्वात् अर्थात् शब्दोंकी सिद्धि अनेकान्त के द्वारा हो सकती है। अतः प्रत्येक शब्दमें नित्यत्व अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, विशेषण, विशेष्यत्व आदि अनेक विरोधी और अविरोधी धर्म पाये जाते हैं। जैन दर्शन शब्दके अर्थ विकास प्रसारमें स्वाभाविक योग्यताको ही कारण मानता है; परन्तु देश, काल आदिके प्रभावके कारण शब्दके अर्थमें उत्तरोत्तर विस्तार होता रहता है। विद्यानन्द स्वामीने पुद्गल स्कन्ध रूप शब्दकी सिद्धि संक्षेपमें निम्न प्रकार की है—

न शब्दः खगुणो बाह्यकरणज्ञानगोचरः।
सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः॥
न स्फोटात्मापि तस्यैव स्वभावस्याप्रतीतितः।
शब्दात्मनस्सदा नाना स्वभावस्यावभासनात्॥
अन्तःप्रकाशरूपस्तु शब्दे स्फोटो परे ध्वनिः।
यथार्थगतिहेतुः स्यात्तथा गंधादितोपरः॥
बन्धरूपरसस्पर्शः स्फोटः किं नोपगम्यते।
तत्राक्षेपसमाधान समत्वात्सर्वथार्थतः॥

अतः जैन दर्शनने शब्दको आकाश-गुण न मानकर पौद्गलिक माना है तथा शब्द और अर्थका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध किया है। स्फोट द्वारा अर्थबोध नहीं होता है, क्योंकि वर्ण, ध्वनि, पद और वाक्यका स्फोट किसी भी दशामें सम्भव नहीं।

कपिल

[जैन कथानक]

कौशाम्बी के राज पुरोहित जब पालकी पर आसीन होकर पथ पर निकलते तब कपिल की माँ की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगते।

यह देख कपिल ने एक दिन अपनी माँ से पूछा, 'माँ, तुम क्यों रोती हो?'

माँ ने कहा, बेटा, उस पालकी पर तुम्हारे आसीन होने की बात थी किन्तु जब तुमने लिखना-पढ़ना नहीं सिखा, मूर्ख ही बने रहे तब तुम्हारी जगह उस पालकी पर कोई दूसरा आसीन हुआ; इसलिए जब भी उस पालकी को देखती हूँ तो सहसा रो पड़ती हूँ।

कपिल लज्जित हो उठा बोला, 'माँ, अब मैं लिखना-पढ़ना सीखूँगा।'

माँ ने कहा, यह तो बड़ी ही आनन्द की बात है। तुम्हारे ऊपर वे कीचड़ उछालते हुए जाते हैं यह मुझसे सहा नहीं जाता।

तदुपरांत लिखना-पढ़ना सीखने के लिए कपिल श्रावस्ती चला गया और आचार्य इन्द्रदत्त से पढ़ना-लिखना प्रारम्भ किया।

वह पढ़ने के लिए इन्द्रदत्त के यहाँ जाता और खाने के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के घर।

प्रथम तो कपिल ने अध्ययन में प्रगति की किन्तु बाद में वह एकाएक रुक गयी।

तरुणाई की अपरिमित चंचलतावश कपिल शालिभद्र के अन्तःपुर की किसी युवती से प्रेम करने लगा। अतः जब मुग्धबोध की पुस्तक लेकर उसे इन्द्रदत्त के सम्मुख बैठना पड़ता, उसका मन पुस्तक के पृष्ठों पर टिक नहीं पाता।

कपिल की यह अन्यमनस्कता जिस दिन इन्द्रदत्त की नजर में आयी उस दिन बाहर वर्षा हो रही थी। इन्द्रदत्त ने कपिल से पूछा, 'कपिल, इतना क्या सोच रहे हो?'

मेघ की छाया में, वर्षा की रिमझिम में, वह क्या सोच रहा था यह कहना कठिन था। तमाल वृक्ष की शाखा पर भींगे डैनेवाले पक्षी को देखकर उसे लगता था कि उस लड़की की बड़ी-बड़ी आँखें भी तो ऐसी ही अचंचल हैं। किन्तु यह बात उन्हें कैसे बताता।

आचार्य ने उसकी भर्त्सना की।

कपिल का अभिमान जागा। उस दिन जो भोजन करने गया तो पुनः नहीं लौटा। जिस लड़की से वह प्रेम करता था उसे लेकर कहीं अन्यत्र चला गया।

अब प्रारम्भ हुई कपिल की *नवीन जीवन-यात्रा*।

पर उन दिनों के प्रेम के साथ दिन-प्रति-दिन का प्रेम मिल न सका कारण उस दिन की वह असाधारण लड़की अब अत्यन्त साधारण होकर उसके सामने आई।

अतः जब उसने प्रेम के प्रतिदान में स्वर्णहार, पैरों की पायल एवं रक्तांशुक का परिधान माँगा तब कपिल को लगा कि यह प्रेम नित्य की नीरसता को दूर करने का एक असफल-सा प्रयास मात्र है। उसका मन इसकी अतृप्ति से बोझिल हो उठा। मन ही मन सोचने लगा, कितना छोटा है उसका हृदय!

दिन भर अथक परिश्रम के पश्चात् कपिल घर लौटता। किन्तु ला न पाता स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान।

तभी उसने धन श्रेष्ठी की चर्चा सुनी। सबसे पहले जो उनके द्वार पर पहुँचता है उसे वे दो माशा स्वर्ण दान करते हैं। कपिल को लगा जैसे पूरब में नीले पहाड़ की चोटी पर सूर्योदय हो रहा है। देवदारु की शिशिर कणों से भींगी पत्तियों की झालर से छनकर आती हुई किरणें जैसे प्रिया के गले में पहने हुए स्वर्णहार पर झिलमिला रही है। उसके पैरों में पायल एवं रक्तांशुक के घूँघट में उसके सुन्दर मुखमण्डल पर सलज्ज हँसी की आभा निखर आई है। उस रात कपिल सो न सका। अतः तारों से भरी अन्धेरी रात्रि में ही वह निकल पड़ा।

उस रात अन्धेरी राह पर वही एक मात्र राही था। एतदर्थ कोतवाल ने न जाने क्या सोचकर उसे पकड़ लिया एवं दूसरे दिन उसे राजसभा में उपस्थित किया।

उसकी समस्त बातें सुन कर राजा ने कहा, 'कपिल, मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। बोलो अब तुम्हें क्या चाहिए?'

यह सुनकर कपिल सोचने लगा वह राजा से स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान क्यों न माँग ले ? किन्तु तभी विचार आया जब राजा से ही माँगना है तब इतना ही क्यों माँगे। दैनन्दिन जीवन-यात्रा के दारिद्र्य को मिटा देने के लिए उसे चाहिए अधिक, बहुत अधिक, हो सकता है यह समस्त राज्य भी।

राजा ने पुनः प्रश्न किया, 'कपिल ! क्या चाहिए तुम्हें ?'

कपिल कहने ही जा रहा था कि समस्त राज्य, किन्तु, हठात् वह रुक गया। क्या माँगना चाहता है वह ? समस्त राज्य ? क्षण मात्र के लिए कपिल की अन्तः दृष्टि के प्रकाश पर आया हुआ आवरण सरक गया।

वह सोचने लगा, हमारे समस्त दुःखों का उद्गम ही तो है यह कामना और यदि इस कामना को ही अ-कामना में रूपान्तरित कर दिया जाए तो सर्व कामनाएँ एकबारगी ही शेष हो जाएँ और तभी प्राप्त होगा वह आनन्द, जिस आनन्द की कोई सीमा नहीं।

राजा ने फिर प्रश्न किया, 'बोलो कपिल ! तुम्हें क्या चाहिए ?'

कपिल राजा की ओर देखने लगा। बोला, 'अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

इसके बाद फिर कपिल घर नहीं लौटा। जो राह पर्वत के बगल से घने वन की ओर विस्तृत थी, उसी राह पर वह चल पड़ा।

शान्तिनाथ ने उनका उपहार ग्रहण कर उन्हें आश्वस्त किया। सेनापति ने सिन्धु के उत्तर प्रान्त को जीत लिया। इस प्रकार गंगा और सिन्धु के मध्यवर्ती भूभाग को स्वसैन्य द्वारा आच्छादित कर वे क्षुद्र हिमवंत पर्वत के निकट गए। क्षुद्र हिमवंत पर्वत के देवगण ने गोशीर्ष चन्दन, पद्म ह्रद के जल सहित अन्य जल और रत्न भेंट कर चक्री की अभ्यर्थना की। फिर शान्तिनाथ ऋषभकूट पर्वत के निकट गए और काँकिनी रत्न से यथा नियम 'चक्रवर्ती शान्तिनाथ' यह नाम उत्कीर्ण किया। तदुपरान्त वे, जिनके शत्रुओं का मनोबल भंग हो गया था, रथ पर आरूढ़ होकर लौटते हुए वैताढ्य पर्वत की तलहटी में उपस्थित हुए।

इह और परकाल के सुखों के लिए उभय श्रेणियों के विद्याधर राजाओं ने चक्री को सम्बर्द्धित किया। फिर वे गंगा नदी के तट पर गए और उसे जीत लिया। गंगा के उत्तर प्रान्त पर सेनापति ने विजय प्राप्त कर ली। तब शान्तिनाथ खंडप्रपाता गुहा के निकट गए और जयमालदेव को जीत लिया। दण्डरत्न की सहायता से सेनापति के गुहाद्वार खोल देने पर चक्र का अनुसरण करते हुए चक्री ने उसमें प्रवेश किया। पूर्व की भाँति उन्होंने मणिरत्न और काँकिणी रत्न कृत मण्डल के आलोक से प्रदीप द्वारा जैसे घर के अन्धकार को दूर किया जाता है वैसे ही गुहा के अन्धकार को दूर किया। फिर सेतु द्वारा उन्होंने सहज ही उन्मग्ना और निमग्ना नदियों को अतिक्रमण किया। शक्तिशाली के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। सिंह की तरह चक्री सैन्य सहित दक्षिण द्वार से निकले जो कि उनके आने पर अपने आप खुल गया था।

गंगा के विस्तृत सैकत पर जहाँ गंगा की तरंगों की तरह अश्व घूम रहे थे, चक्री ने अपनी छावनी डाली। निसर्प आदि नव रत्न जो कि गंगा के मुहाने के निकट अवस्थित थे शान्तिनाथ के पास आए और उनकी वश्यता स्वीकार की। गंगा के दक्षिण प्रान्त पर जहाँ मलेच्छ रहते थे उसे गाँव जीतने की भाँति सेनापति ने अनायास जीत लिया। इस प्रकार ८०० वर्षों के पश्चात् भरत क्षेत्र के छः खण्डों को छः रिपुओं की भाँति जीत कर चक्री ने वहाँ से प्रत्यावर्तन किया।

दीर्घ पथ अतिक्रमण कर नरकुंजर शान्तिनाथ क्रमशः श्री के निवास रूप हस्तिनापुर लौट आए। देवों की भाँति पलकहीन नेत्रों से नागरिक एवं ग्रामीणों ने उन्हें स्व-प्रासाद में प्रवेश करते देखा। शान्तिनाथ का चक्रीपद पर अभिषेक देवों और मुकुटबद्ध राजाओं ने किया। यह उत्सव बारह वर्षों तक हस्तिनापुर में चला। इन बारह वर्षों तक हस्तिनापुर को दण्ड या कर से मुक्त कर दिया गया। तदुपरान्त वे एक हजार अनुचर यक्ष, चौदह रत्न और नवनिधियों द्वारा स्वतन्त्र भाव से अभिषिक्त हुए। वे चौंसठ हजार रानियों से परिवृत थे। उनके हाथी, रथ और अश्व प्रत्येक की संख्या चौंसठ-चौंसठ हजार थी। वे छियानवे करोड़ गाँव, छियानवे करोड़ पदातिक और बत्तीश-बत्तीश हजार राज्य व राजन्य के अधीश्वर थे। उनके ३७३ रसोइए थे और उनके राज्य में १८ जातियाँ एवं १८ उपजातियाँ थीं। वे ७२ हजार वृहद् नगर, ३९९ हजार पत्तन, ४८ हजार द्रोणमुख, २४ हजार सामान्य नगर और मण्डलों के आधीश्वर थे। वे २० हजार रत्नों की खानें, १६ हजार खेट, १४ हजार निगम और ५५ अन्तर्द्वीपों के मालिक थे। वे ३९ कर्वटों के प्रमुख और अवशिष्ट समस्त भरत के छः खण्डों के अधीश्वर थे। चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त होने के पश्चात् ८०० वर्ष कम १९ हजार वर्ष तक नृत्य-गीत अभिनयादि देखकर पुष्प चयन एवं जलक्रीड़ादि करते हुए उन्होंने व्यतीत किए।

उसी समय भूकम्प द्वारा कम्पित हुए हैं इस प्रकार ब्रह्मलोक के लोकान्तिक देवों के सिंहासन कम्पित हुए। सारस्वत आदि देवों ने चकित होकर सोचा यह क्या हुआ? फिर अवधि ज्ञान के प्रयोग द्वारा एक दूसरे को बोले, सुनो सुनो, जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में अर्हत् शान्तिनाथ का दीक्षाकाल उपस्थित हुआ है। उनकी शक्ति से मानो चैतन्य प्राप्त कर सिंहासनों ने उनको दीक्षापूर्व के हमारे कर्तव्यों का स्मरण करा दिया है। तीन ज्ञान के धारक वे स्वयं भी सब कुछ जानते हैं फिर भी हम जाकर उन्हें यह बतलाएँ कि उनके व्रत ग्रहण का समय हो गया है। यह परम्परागत है।

परस्पर इस प्रकार वार्तालाप कर सारस्वत आदि देव विमान में बैठकर शान्तिनाथ के निकट आए। उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और करबद्ध होकर बोले, प्रभु, तीर्थ स्थापना का समय हो गया है। ऐसा कहकर उन्हें पुनः प्रणाम कर लोकान्तिक देव स्वर्ग को लौट गए।

एक वर्ष तक उन्होंने जृम्भक देवों द्वारा लाए धन का दान किया।

तदुपरान्त संयम रूप साम्राज्य के चक्रवर्तीत्व को प्राप्त करने के लिए अपने पुत्र जो कि उन्हीं का प्रतिबिम्ब-सा था ऐसे चक्रायुध को राज्यभार सौंप दिया। उनका दीक्षा महोत्सव भी उनके चक्रवर्ती पद के अभिषेक उत्सव की तरह देवों, मनुष्यों और चक्रायुध द्वारा अनुष्ठित हुआ। चक्रवर्ती तब सर्वार्था नामक शिविका पर चढ़कर उसमें रखे सिंहासन पर बैठ गए। प्रथम मनुष्यों ने उस शिविका को उठाया। फिर देव पूर्व दिशा में, असुर दक्षिण दिशा में, सुपर्ण कुमार पश्चिम दिशा में और नाग कुमार उत्तर दिशा की ओर ले गए।

तदुपरान्त प्रभु सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पधारे। वहाँ पाटल पुष्पों ने आकाश को सन्ध्या राग से रंजित कर रखा था। ग्रीष्मकालीन श्री के मिलन से शिरिष पुष्पों से वह वन मानों हर्षित हो रहा था। स्वेद जल झरने की भाँति जूँही के फूल झर रहे थे। देवदार वृक्ष की स्वर्णिम फलियाँ कामदेव के धनुष का भ्रम उत्पन्न कर रही थीं। धातकी के नवीन पुष्पोद्गम से आकृष्ट होकर भ्रमर पंक्तिबद्ध बने गुन-गुन गीत गा रहे थे मानों वे ग्रीष्म-लक्ष्मी को गीत सुना रहे हों। लटकती हुयी खजूरों की पुष्पराजि वनलक्ष्मी के पयोधर-सी प्रतीत हो रही थी। फल भक्षण के लिए उन्मादी बने शुक पक्षियों की श्रेणीबद्ध पूँछों से वह वन मानों द्विधा विभक्त हो गया है ऐसा लग रहा था। पत्र-पल्लवों के समारोह से वह वन चातक पक्षीमय है ऐसा भ्रम हो रहा था। नागरिकगण उस वन में क्रीड़ा कर रहे थे।

वहाँ पहुँचकर भगवान शान्तिनाथ शिविका से उतरे और राज्य, रत्न, अलंकार, माल्य आदि का परित्याग किया। ज्येष्ठ मास की कृष्णा चतुर्दशी के दिन चन्द्र जब भरणी नक्षत्र में अवस्थित था सिद्धों को नमस्कार कर दो दिनों के उपवासी उन्होंने एक हजार राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण के साथ-साथ उन्हें मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन मंदिरपुर के राजा सुमित्र के घर क्षीरान्न ग्रहण कर दो दिन के उपवास का पारणा किया। देवों ने रत्न वर्षादि कर वहाँ पाँच दिव्य प्रकटित किए। प्रभु जहाँ खड़े हुए थे वहाँ राजा सुमित्र ने एक रत्न वेदी का निर्माण करवाया। बिना कहीं बैठे बिना कहीं सोए, निःस्पृह, संसार के बन्धनों से रहित, मूल और उत्तरगुणधारी भगवान शान्तिनाथ पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

इस भाँति विचरण करते हुए एक वर्ष पश्चात् हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्रवन उद्यान में वे फिर लौट आए। दो दिनों का उपवास किए

नंदी वृक्ष के नीचे जब वे शुक्ल ध्यान में बैठे थे तब घाती कर्मों के क्षय हो जाने से उसी मुहूर्त्त में वहीं उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। उस दिन पौष शुक्ला नवमी थी और चन्द्र भरणी नक्षत्र में अवस्थित था।

सिंहासन कंपित होने से प्रभु को केवल ज्ञान हो गया है जानकर इन्द्र देवों सहित वहाँ आए। देवों ने भृत्य की भाँति घूर्णिवायु उत्पन्न कर एक योजन व्यापी स्थान को धूल कंकर घास आदि से मुक्त किया। धूल शान्त करने के लिए दिव्य सुगन्धित जल की वर्षा की। तदुपरान्त घुटनों तक दिव्य पुष्पों की वर्षा की। स्वर्ण शिलाओं से उस स्थान को उन्होंने आच्छादित किया। पूर्व और अन्य दिशाओं में उन्होंने सुन्दर तोरण निर्मित किए। मध्य में एक रत्न वेदी बनायी और चतुर्दिक चित्र-विचित्र दरवाजे बनाए। सोना चाँदी एवं रत्नों से तीन प्राकारों की रचना की। रत्नमय सर्वोच्च प्राकार के बीच उन्होंने एक सौ अस्सी धनुष दीर्घ एक चैत्य वृक्ष निर्मित्त किया। चैत्य वृक्ष के नीचे एक अनन्य वेदी की रचना की और उसपर पूर्वाभिमुख कर एक रत्न सिंहासन रखा तब पूर्वद्वार से चौंतीस अतिशय से युक्त प्रभु शान्तिनाथ ने उस समवसरण में प्रवेश किया। जगद्गुरु ने उस चैत्य वृक्ष को नमस्कार कर 'नमो तीर्थाय' कहकर चतुर्विध संघ को नमस्कार किया। कारण यह सनातन नियम है। प्रभु पूर्व दिशा में रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे। देवों ने अन्य तीन दिशाओं में उनके प्रतिरूप रखे। देव असुर और मनुष्य अपने-अपने निर्दिष्ट द्वारों से प्रविष्ट होकर निर्दिष्ट स्थानों पर प्रभु की ओर मुख कर खड़े हो गए। उनके यान वाहन निचले प्राकार में रख दिए गए।

सहस्राम्रवन उद्यान के माली तब आनन्दपूरित नेत्रों से सम्राट चक्रायुध के पास गए और बोले, महाराज, आज आपकी सम्वृद्धि वर्द्धित हो गयी है, कारण सहस्राम्रवन में भगवान शान्तिनाथ को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह सुनकर आनन्दित बने चक्रायुध ने उसे पारितोषिक दिया और उसी समय प्रभु के पास पहुँचे। उन्हें प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करके इन्द्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः वन्दना कर इन्द्र और चक्रायुध ने भक्ति गद्गद् कण्ठ से उनकी इस प्रकार स्तुति की—

हे जगन्नाथ, आपके माध्यम से पृथ्वी आज आनन्दित हो गयी है। हे ज्ञान रूपी सूर्य आपके उदय से पृथ्वी आलोकित हो उठी है। हे जगद्गुरु, आनन्द के कल्पवृक्ष रूप पूर्व जन्म के संचित पुण्य से मैंने आज आपके

कल्याणक को प्राप्त किया है। हे त्रिलोकनाथ, आपके दर्शन रूप स्रोत के जल ने जीव मात्र के वासनादि द्वारा कलुषित मन को धोकर पवित्र कर दिया है। कर्मनाश कर आप जब तीर्थङ्करत्व प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे तब वह निज स्वार्थ के प्रति वैराग्य और अन्य के प्रति करुणा रूप थी। संसार भय से भीत मनुष्यों के लिए आपका यह समवसरण महादुर्ग की तरह आश्रय रूप हो गया है। आप सबके अन्तःकरण को जानते है और सबका कल्याण करते है। अतः आप से कोई प्रार्थना नहीं करनी है। फिर भी हे नाथ, हम यही प्रार्थना करते हैं—पृथ्वीपर विचरण करते समय आप जिस प्रकार ग्राम, खान, नगर आदि का परित्याग करते हैं उसी प्रकार हमारा हृदयों का परित्याग न करें। हे भगवन्, आपके चरण-कमलों में हमारा मन भ्रमर बनकर सर्वदा संलग्न रहे।

इस प्रकार स्तुति कर जब इन्द्र और चक्रायुध चुप हो गए तब भगवान शान्तिनाथ ने देशना प्रारम्भ की।

हाय, चतुर्गति रूप इस संसार में जीवों के दुःखों के बहुत से कारण हैं। गृह जिस प्रकार चार स्तम्भों पर खड़ा रहता है उसी प्रकार यह संसार भी क्रोध, मान, माया व लोभ इन चार स्तम्भों पर खड़ा है। मूल के सूख जाने पर जिस प्रकार वृक्ष सूख जाता है उसी प्रकार जब कषाय नष्ट हो जाता है तब संसार भी नष्ट हो जाता है। अग्नि में तपाकर खाद को जलाये बिना जैसे सुवर्ण शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना कोई कभी कषायों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। चपल और उन्मत्त अश्व मनुष्य को जैसे विपथ पर ले जाता है उसी प्रकार अनियन्त्रित इन्द्रियाँ बलपूर्वक उसे नरक ले जाती है। जो इन्द्रियों के वशीभूत है वह कषायों द्वारा पराजित है। जिस दीवाल के नीचे से ईंट निकल जाती है वह दीवाल जैसे गिर जाती है उसी प्रकार इन्द्रिय अनियन्त्रित का वध बन्धन और पतन होता है। इन्द्रियों के अधीन होकर ऐसा कौन है जो दुःख परम्परा से बच गया हो। जो शास्त्रज्ञ हैं वे भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर मूर्खों जैसा कार्य कर बैठते हैं। इन्द्रियों के अधीन होना कितना लज्जास्पद है वह तो इससे ही प्रमाणित होता है कि महाराज भरत बाहुबली पर चक्र निक्षेप कर बैठे। बाहुबली की जय और भरत की पराजय इन्द्रियों पर जय और इन्द्रियों के वशीभूत होने का ही परिणाम है। जो जन्म उनका अन्तिम जन्म था ऐसे वे दोनों अस्त्र लेकर युद्ध करते हैं इसी से तो इन्द्रियों का प्रबल प्रताप प्रकाशित होता है।

पशु रूप मानव इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं यह तो समझ में आता है किन्तु जो पूर्व जन्म को जानते हैं जिनका मोह उपशान्त है वे भी इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं। देव और मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर कैसे-कैसे कुकर्म कर बैठते—यह कितने दुःख की बात है। इन्द्रियों के वशीभूत जो अखाद्य है वही खाते हैं, जो अपेय है उसका पान करते हैं, जहाँ जाना उचित नहीं वहाँ जाते हैं। इन्द्रियों के वशीभूत होकर ही तो वे उत्तम कुल और सदाचार का परित्याग कर वेश्या का दासत्व स्वीकारते हैं, नीच कर्म करते हैं। इन्द्रियों के प्रताप से ही मोहान्ध व्यक्ति पर-द्रव्य और पर-स्त्री पर दृष्टि डालते हैं और इस दुष्कर्म के लिए उनके हाथ पाँव और इन्द्रियाँ काट दी जाती हैं, यहाँ तक कि मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है। अधिक कहने को क्या है कारण जो मनुष्य के श्रद्धापात्र हैं वे भी इन्द्रियों के वशीभूत होते है, साधारण लोगों के लिए परिहास का विषय बनते हैं। एक वीतराग को छोड़कर संसार के समस्त जीव, इन्द्र से लेकर साधारण कीट तक सभी इन्द्रियों के वशीभूत है।

हस्तिनी के स्पर्श सुख के लिए हस्ती अपनी सूँड़ बढ़ाकर अग्रसर होता है और आलान-स्तम्भ के बन्धन में पड़ जाता है। अगाध जल में विचरण करनेवाला मत्स्य काँटे में लगे कीट को खाने के लोभ से उसे गले में उतारता है और धीवर के हाथ में पड़ जाता है। मत्त गजराज के मदगन्ध से आकृष्ट भ्रमर उसके गण्डस्थल पर बैठता है और कान के चपेटाघात से पंचत्व को प्राप्त हो जाता है। स्वर्ण वर्णीय दीप शिखा के आलोक पर मुग्ध होकर पतंग उस ओर दौड़ता है और मृत्यु को वरण करता है। मनोहर संगीत श्रवण कर मुग्ध हरिण शिकारी के बाण से निहत होता है। मात्र एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर जब ये सब मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के जो वशीभूत हैं उनका तो कहना ही क्या? एतदर्थ बुद्धिमान मनुष्यों के लिए यही उचित है कि वे मन को विषय-वासना से मुक्त करें, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना व्रत और कृच्छ्र साधनादि सभी व्यर्थ हो जाते हैं।

जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं करते वे कष्ट पाते हैं। इसलिए जो समस्त दुःखों से मुक्त होना चाहता है उसके लिए उचित है इन्द्रियों पर जय लाभ करना। कार्य से विरत होने से ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं होती बल्कि कार्य करते हुए भी जो राग-द्वेष से मुक्त हैं वही सचमुच विजयी है।

इन्द्रिय विषयों के साथ रहकर इन्द्रियों का संभोग रोकना सम्भव नहीं। इसी लिए जो विज्ञ हैं वे उनसे राग-द्वेष हटा लेते हैं। जो संयमी होते हैं उनकी इन्द्रियाँ पराजित हैं। इन्द्रिय के विषय नष्ट होने पर आत्मा का हित नष्ट नहीं होता बल्कि अहित नष्ट होता है। जिनकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वे मुक्ति लाभ करते हैं जिनकी अनियन्त्रित हैं वे संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इस भेद को ज्ञात कर यथोचित मार्ग ग्रहण करें।

रूई मक्खन आदि की भाँति कोमल और पत्थर आदि की तरह कठोर स्पर्श से जो प्रीति-अप्रीति होती है वह हेय है ऐसा विचार कर राग-द्वेष को जीतो और स्पर्शेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। स्वादिष्ट अभक्ष्य पदार्थ और कटु रस पर रूचि-अरूचि का त्याग कर रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। घ्राणेन्द्रिय में सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रविष्ट होने पर यह वस्तु का परिणाम है ऐसा विचार कर उसके राग द्वेष से रहित बनो। सुन्दर आकृति और असुन्दर आकृति देखकर जो हर्ष और विषाद उत्पन्न होता हैं उसका परित्याग कर चक्षु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। वीणादि का मधुर स्वर सुनकर उस पर राग-द्वेष न कर श्रोतेन्द्रिय पर जय लाभ करो। संसार में ऐसा कोई इन्द्रिय विषय नहीं है जो मूलतः शुभ वा अशुभ है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं जिसका जीव ने पूर्व में भोग नहीं किया और उसपर राग-द्वेष के कारण कष्ट नहीं उठाया। तब फिर क्यों वह किसी विषय पर मुग्ध और किसी विषय पर विषादयुक्त होता है। इन्द्रियों के विषय यदि मूलतः प्रिय और अप्रिय होते तब तो राग और द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु ऐसा नहीं है। यह तो मन का विभाव है। अतः मनके शुद्धत्व द्वारा जिनकी इन्द्रियाँ उपशान्त हो गयी हैं जिनके कषाय क्षीण हो गए हैं वे अक्षीण स्थान मोक्ष प्राप्त करते है।

कानों के लिए अमृत तुल्य ऐसी देशना सुनकर मोक्ष प्राप्ति के अभिलाषी चक्रायुध प्रभु से बोले, हे स्वामिन्, दुखों के आकर इस संसार भय से मैं भीत हो गया हूँ। जो विचक्षण हैं वे शक्तिशाली होने पर भी मनुष्य जन्म प्राप्त किया है इसका गर्व नहीं करते। ज्वलन्त गृह के और डूबती हुयी नौका के अधिकारी जिस प्रकार मूल्यवान द्रव्य संग्रहकर अन्यत्र चले जाते हैं उसी भाँति मैं भी जन्म, जरा मृत्यु से भयंकर इस संसार से मात्र आत्मा को लेकर आप की शरण ग्रहण करता हूँ। भगवन्, संसार समुद्र में पतित मुझ पर आप दया करें। मुझे संसार समुद्र को पार करनेवाली नौका रूप दीक्षा दें।

भगवान ने कहा, तुम्हारे जैसे विवेकवान के लिए यही उपयुक्त है।

ऐसा सुनकर चक्रायुध ने राज्यभार अपने समर्थ पुत्र को सौंपकर पैंतीस

राजाओं सहित उसी समवसरण में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। वे भगवान शान्तिनाथ के गणधर बने। चक्रायुध आदि इन ३६ गणधरों को भगवान ने उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त त्रिपदी का उपदेश दिया। इसी त्रिपदी के अनुसार उन्होंने द्वादशांगी की रचना की। प्रभु ने भी उन पर व्याख्या और गण का भार अर्पित किया।

अनेक स्त्री-पुरुष उसी समय प्रभु से दीक्षित हुए और अनेको ने सम्यक् दर्शन सहित श्रावक के बारह व्रत को ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम समाप्त हो जाने पर प्रभु उठ खड़े हुए और मध्य प्राकार की अलंकार रूप पीठिका पर विश्राम ग्रहण किया। तब प्रभु के पादपीठ पर बैठकर गणधर प्रमुख चक्रायुध ने देशना देनी प्रारम्भ की। दिन के द्वितीय याम के शेष होने पर उन्होंने भी देशना देनी बन्द कर दी। देव मनुष्य सभी प्रभु को प्रणाम कर स्व-स्व स्थान को चले गए।

भगवान शान्तिनाथ के समवसरण में गरूड यक्ष उत्पन्न हुआ जिसका मुख शूकर की भाँति और जिसके दाहिने हाथों में एक में बीजोरानींबू और दूसरे में कमल था। बाएँ दोनों हाथों में से एक में नकुल और दूसरे में अक्षमाला थी। ये भगवान के शासन देव हुए। उसी समय समवसरण में पद्मासना कनकवर्णा निर्वाणी यक्षी उत्पन्न हुयी। जिसके दोनों दाहिने हाथों में से एक में पुस्तक और दूसरे में नील कमल था और बाएँ हाथों में से एक में कलश और अन्य में कमल था। ये त्रिलोकपति की शासन देवी हुयी।

यक्ष और यक्षिणी सहित भगवान शान्तिनाथ दूसरों के कल्याणार्थ जो मोक्ष प्राप्ति में समर्थ है उन्हें उपदेश देते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगे। प्रव्रजन करते हुए वे एक दिन हस्तिनापुर नगर आए। यहाँ उनकी समवरण सभा का आयोजन किया गया। प्रतिपदा की रात्रि को चन्द्र जैसे सूर्य से मिलता है उसी प्रकार उस नगर के राजा कुरुचन्द्र प्रजाजनों सहित प्रभु से मिलने आए। चतुर्विध संघ यथास्थान स्थित होने पर भगवान ने संसार से विरक्त करने वाली देशना दी।

देशना की समाप्ति पर कुरुचन्द्र भगवान को प्रणाम कर पूछे भगवन्, मैंने पूर्व जन्म में ऐसा कौन सा पुण्य किया था कि मैं राजा बना हूँ। किस कर्म के कारण मैं प्रतिदिन पाँच दिव्य प्राप्त करता हूँ? मैं उन्हें स्वयं भोग न कर प्रियजनों को देने के लिए रख देता हूँ किन्तु अन्य किसी को दे नहीं पाता। भगवन्, यह कौन से कर्मोदय का फल है?

भगवान शान्तिनाथ बोले, कुरुचन्द्र, पूर्व जन्म में तुमने मुनियों को

दान दिया था इसी से तुम्हें यह राज्य प्राप्त हुआ है। वस्त्रादि जो पाँच दिव्य वस्तुएँ तुम प्राप्त करते हो वह भी इसी पुण्य के कारण। तुम जो उनका उपभोग नहीं कर सकते उसका कारण है जो वस्तु बहुजनों के भोग के लिए है उसका भोग एक व्यक्ति नहीं कर सकता। तुम सोचते हो यह वस्तु मैं प्रियजनों को दूँगा किन्तु दे नहीं पाते कारण तुम उन प्रियजनों को नहीं जानते। मैं तुम्हें तुम्हारे पूर्व भव की कथा सुनाता हूँ।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कोशल नामक देश है। उस देश में श्रीपुर नामक एक नगर था। वहाँ चार वणिक पुत्र निवास करते थे। उनके नाम थे सुघन, धनपति, धनद, और धनेश्वर। वे समवयस्क थे और उनमें स्व-भाइयों सा प्रेम था। एकबार वे धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप गये। उनके साथ द्रोण नामक एक भृत्य था जो उनकी रसद आदि वस्तुओं को वहन करता था। रास्ते में एक वन पड़ा। उस वन को पार करने के समय उनके साथ लाया खाद्य द्रव्य यथेष्ट होने पर भी प्रायः निःशेष हो गया। उसी अवस्था में चलते हुए उन्होंने वृक्ष के नीचे प्रतिमाधारी ध्यानस्थ मुनि को देखा। उनके हृदय में भक्ति उत्पन्न होने पर उन्होंने सोचा—इन्हें कुछ आहार देना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने द्रोण से कहा, भद्र, इन मुनि को कुछ आहार दो। द्रोण ने भी श्रद्धान्वित होकर उच्च भावना से मुनि को भिक्षा दी और महाभोग फल रूपी पुण्य उपार्जन किया।

वहाँ से वे रत्नद्वीप गए। वहाँ वाणिज्य कर खूब धन उपार्जन किया। उस धन को लेकर वे स्व-नगर को लौट आए और सुखपूर्वक रहने लगे। उस पुण्य के कारण उनकी खूब उन्नति हुयी। स्वाती नक्षत्र में जो वृष्टि होती है उसी से तो धान्य की खूब वृद्धि होती है। उनमें धनेश्वर और धनपति कुछ कपटी थे। उन सबमें द्रोण की ही भावना विशेष शुद्ध थी। द्रोण की मृत्यु उन सबसे पूर्व हुयी। मृत्यु के पश्चात उस पुण्य के प्रभाव से वह हस्तिनापुर नरेश के पुत्र कुरुचन्द्र रूप में तुमने जन्म ग्रहण किया। तुम्हारे जन्म के पूर्व तुम्हारी माँ ने मुख में चन्द्र को प्रवेश करते देखा था। अतः तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हारा नाम कुरुचन्द्र रखा। सुघन और धनदेव मृत्यु होने पर काम्पिल्य और कृत्तिकापुर के वणिक पुत्र रूप में जन्मे। सुघन का नाम हुआ वसन्तदेव और धनदेव का कामपाल। क्रमशः धनपति और धनेश्वर की भी मृत्यु हुयी। वे वणिक कन्या मदिरा और केशरा रूप में शंख-पुर और जयन्ती नगरी में जन्मे। वे चारों बड़े होने पर यौवन को प्राप्त हुए।

[क्रमशः

संकलन

।। अहिंसा का प्रचार नहीं, प्रयोग प्रस्तुत करें ।।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार पूरे विश्व में हो रहा है। जैन धर्म के आचार्य-गण, साधु-साध्वी वृन्द से लेकर हमारे जैसे साधारण कार्यकर्ता भी यथाशक्ति जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

लेकिन किसी धर्म के सिद्धान्तों को विश्व में फैलाना हो तो प्रचार के बदले आचार और प्रयोग की ज्यादा जरूरत है। हम केवल जैन सिद्धान्तों का दूसरों में प्रचार-प्रसार करते रहे और हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में यदि वे तत्व प्रयोग के रूप में प्रस्तुत नहीं हो तो वह प्रचार कैसे टिकेगा ? सिद्धान्तों के प्रचार के लिए सर्वोत्तम साधन है जीवन के आचार एवं समाज के व्यवहार में उनका सफल प्रयोग।

अहिंसा के प्रचार के लिए हम विदेशों में पहुँचे इसके पूर्व अपने देश में अपने राज्य में ही हिंसा की ज्वाला को बुझाने के लिए अहिंसा का प्रयोग कर महात्मा के समान उदाहरण प्रस्तुत कर सके तो सच्चा प्रचार होगा। पूरे भारत में आज हिंसा की ज्वाला धधक रही है, व्यसन बढ़ रहे हैं, एकान्त आग्रह के कारण साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार नैतिकता और प्रामाणिकता भी दुर्लभ होती जा रही है। ऐसी स्थिति में हमारा दायित्व है कि हम अहिंसा एवं जैन धर्म के सिद्धान्तों का यहाँ प्रयोग कर उसकी तेजस्विता प्रगट करें।

'अहिंसा वीरों का धर्म है' यह घोष लगाते रहने से अहिंसा का प्रचार नहीं होगा। इसकी वीरता प्रयोग द्वारा, अपने जीवन के आचरण द्वारा सिद्ध करके बतानी होगी। 'परिग्रह पाप है' कहने मात्र से अपरिग्रह का प्रचार नहीं होगा बल्कि परिग्रह त्यागना, परिग्रहियों को महत्व देना बन्द करना होगा। हमारी कथनी एवं करनी की एकरूपता जरूरी है। केवल आदर्श वाक्य उच्चारते रहें, नारे लगाते रहे, अखबारों में छापते रहे और मान लें कि धर्म का प्रचार हो गया तो भूल है।

अहिंसा का प्रचार शब्दों से नहीं जीवन प्रयोग द्वारा करें।

—चंदनमल चांद

जैन जगत, नवम्बर १९९०

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

अमर-भारती ।। नवम्बर १९९०

उपाध्याय श्री अमर मुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'साधना में बाह्य क्रिया और मनोभाव' (पं० दलसुख मालवणिया)।

अनेकान्त ।। जुलाई-सितम्बर १९९०

इस अंक में है 'कन्नड़ के जैन साहित्यकार' (राजमल जैन), भट्टाकलंक कृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक अध्ययन' (हेमन्तकुमार जैन), 'नीति काव्य की अचर्चित कृति मनमोदन पंचशती' (डा० गंगाराम गर्ग), 'भ० पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप' (खुल्लक चित्तसागर), 'संस्कृत के जैन सन्देश काव्य' (कु० कल्पना जैन), 'राज्य संग्रहालय खुबेला की सर्वतोभद्रिका मूर्तियाँ' (नरेश कुमार पाठक)।

जर्नल अव द ओरियन्टल इन्स्टीट्युट ।। सितम्बर-दिसम्बर १९८८

इस अंक में है 'Disposal of the Dead In Bhagavati Aradhana' (Jagadish Chandra Jain).

तीर्थंकर ।। अक्टूबर १९९०

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'धर्म और धन : नये सम्बन्धों की तलाश' (राजेन्द्रमल कुम्भट), 'कब तक चलता रहेगा यह ताण्डव ?' (लीलाबती जैन), 'अपरिग्रह और हम' (सुरेन्द्र बोथरा), 'निगल रहे हैं हड्डियाँ हम सब' (डा० नेमीचन्द जैन), 'जैन मानस : दो राहे पर' (कन्हैयालाल सरावगी), 'क्यों करती हैं संस्थाएँ इस तरह सलूक-२' (डॉ० भागचन्द्र जैन)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

CIRCULAR ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 38-5960

Branch Office :

Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578, 5778

WB/NC-253
Vol. XIV No. 8 TITTHAYARA December 1990
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 24582/73